आचार्य श्रीतुलसी

सर्व-धर्म-समभाव और स्याद्वाद

धर्म एक ही है इसलिए 'सर्व-धर्म' ऐसा प्रयोग सही नहीं है. जब धर्म अनेक नहीं तब समभाव किन पर हो ? निश्चय-दृष्टि से यह धारणा उचित है. व्यवहार की धारणा इससे भिन्न है. जब हम धर्म और सम्प्रदाय को एक ही शब्द से अभिहित करते हैं, तब धर्म अनेक हो जाते हैं और उन सब पर समभाव रखने का प्रश्न भी उपस्थित होता है. पर प्रति-प्रश्न यह है कि जो धर्म सम नहीं हैं उन पर समभाव कैसे रखा जाए ? कोई धर्म अहिंसा का समर्थन करता है और कोई नहीं करता. क्या उन दोनों को सम-दृष्टि से देखा जाए ? यह कैसे हो सकता है ? प्रकाश और धूमिल को सम नहीं माना जा सकता. जो विषम हैं, उन्हें सम मानना मिथ्या दृष्टिकोण है.

किन्तु स्याद्वाद के संदर्भ में समभाव का अर्थ होगा अपने भावों का समीकरण. जिसका दृष्टिकोण अनेकान्तस्पर्शी होता है वही व्यक्ति प्रत्येक धर्म के सत्यांश को स्वीकार और असत्यांश का परिहार करने में सम (तटस्थ) रह सकता है.
धर्म के विचार अनेक हैं. कोई कालवादी है, कोई स्वभाववादी. कोई ईश्वरवादी है, कोई यदृच्छावादी. कोई नियतिवादी है, कोई पुरुषार्थवादी . कोई कर्मवादी है, कोई परिस्थितिवादी. कोई प्रवृत्तिवादी है, कोई निवृत्तिवादी.

श्वेताश्वतर-उपनिषद् में उल्लेख है कि—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष—ये अलग-अलग विश्व के कारण नहीं हैं और इनका संयोग भी आत्मा के अधीन है, इसलिए वह भी विश्व का कारण नहीं है. आत्मा सुख, दुःख के हेतुओं के अधीन है, इसलिए वह भी विश्व का कारण नहीं हो सकता.[1]

ब्रह्मवादी विचारधारा प्रवृत्त हुई तब उसके सामने ये अभिमत प्रचलित थे. महाभारत में हमें काल, स्वभाव आदि का समर्थन करनेवाले असुरों के सिद्धांत मिलते हैं. प्रह्लाद स्वभाववादी थे. इन्द्र ने उनसे पूछा—"आप राज्य-भ्रष्ट होकर भी शोक-मुक्त कैसे हैं ?"[2]

प्रह्लाद ने कहा—"मेरी यह निश्चित धारणा है कि सब कुछ स्वभाव से ही प्राप्त होता है. मेरी आत्म-निष्ठ-बुद्धि भी इसके विपरीत विचार नहीं रखती.[3]

इसी प्रकार इन्द्र के प्रश्न पर असुरराज बलि ने काल के कर्त्तृत्व का समर्थन किया.[4] नमुचि ने नियतिवाद के समर्थन में कहा—"पुरुष को जो वस्तु जिस प्रकार मिलनेवाली होती है, वह उस प्रकार मिल ही जाती है. जिसकी जैसी भवितव्यता होती है, वह वैसा ही होता है."[5]

---

१. श्वेताश्वतर १.२
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोगः एषां न त्वात्मभावा-दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ।

२. महाभारत शान्तिपर्व २२३.११

३. महाभारत शान्तिपर्व २२३.२३, २२७.७३
कालः कर्त्ता विकर्त्ता च, सर्वमन्यदकारणम् ।
नाशं विनाशमैश्वर्यं, सुखं दुःखं भवाभवौ ॥

४. महाभारत शान्तिपर्व २२४। ५-६०

५. महाभारत शान्तिपर्व २२६.१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद की मर्यादा के अनुसार काल, स्वभाव आदि कार्य की निष्पत्ति में कारण हैं, पर ये वियुक्त होकर किसी कार्य को निष्पन्न नहीं करते. इनका समुचित योग होने पर ही कार्य निष्पन्न होता है. आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—'काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत और पुरुषार्थ'—ये पांचों कारण परस्पर निरपेक्ष होकर अयथार्थ बन जाते हैं और ये ही परस्पर सापेक्ष होकर यथार्थ बन जाते हैं.[1]

वस्तुस्थित्या कर्तृत्व स्वयं पदार्थ में होता है. प्रत्येक पदार्थ का संस्थान स्वयं संचालित होता है. काल आदि उसके संचालन में निमित्त कारण बनते हैं. पदार्थ और उसकी कारण-सामग्री से अतिरिक्त किसी शक्ति में कर्तृत्व का आरोप करने की कोई अपेक्षा नहीं. फिर भी कुछ दार्शनिक ईश्वरकर्तृत्व की स्थापना करते हैं. हरिभद्र सूरि ने स्याद्वाद भाषा में कहा—"कर्त्ता वही होता है जो परम ईश्वर है. आत्मा परम ईश्वर है. वह अपने स्वभाव-कार्य का कर्त्ता है. कर्तृवाद अमान्य ही नहीं, हमें मान्य भी है.[2]"

कोई दार्शनिक स्थायित्व का आग्रह करता है, कोई परिवर्तन का. किन्तु स्याद्वादी दोनों का प्रत्येक वस्तु में समाहार करता है. इसीलिए उसकी दृष्टि में केवल स्थायी या केवल परिवर्तनशील पदार्थ होता ही नहीं. जिसमें विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व न हो, वह असत् है—वैसी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है. समभाव स्याद्वाद का पूर्व रूप है और सह-अस्तित्व उसका फलित है.

यदि सब पदार्थ या एक पदार्थ के अनेक धर्म अविरोधी ही होते तो पदार्थ एक ही होता और एक पदार्थ भी एक धर्म से युक्त होता, किन्तु ऐसा नहीं है और इसीलिए नहीं है कि अनेक विरोधी पदार्थ और हर पदार्थ में अनेक विरोधी धर्म हैं. जिनकी दृष्टि विषम होती है, वे ऐसा मानते हैं कि विरोधी वस्तुओं या धर्मों का सह-अस्तित्व हो ही नहीं सकता. किन्तु समदृष्टि वाले ऐसा मानते हैं कि सह-अस्तित्व, उन्हीं का होता है जो विरोधी अंशों से पृथक् अस्तित्व रखते हैं. यह वस्तु-जगत् के प्रति स्याद्वाद का सह-अस्तित्व सिद्धान्त है.

धार्मिक जगत् के प्रति भी स्याद्वाद का फलित यही है. यह देखकर कष्ट होता है कि कुछ जैन विद्वान् स्याद्वाद का पूरा निर्वाह नहीं कर सके. वाद-विवाद के क्षेत्र में वैसे उतरे, जैसे एकान्तवादी दार्शनिक उतरे थे. समदृष्टि उतनी नहीं रही जितनी स्याद्वाद की पृष्ठभूमि में रहनी चाहिए. इसीलिए उसका फलित, सह-अस्तित्व, उतना विकसित नहीं हो सका, जितना होना चाहिए.

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों एक ही महावृक्ष की महान् शाखाएं हैं. उनके सिद्धान्त-निरूपण में भी कोई बहुत मौलिक अन्तर नहीं है. फिर भी दोनों शाखाओं के विद्वानों ने मतभेद की समीक्षा में ऐसे शब्द प्रयोग किये हैं, जो वाँछनीय नहीं थे. लगता है कि स्याद्वाद की मर्यादा अब विकसित हो रही है. श्वेताम्बर और दिगम्बर धारा की दूरी मिट रही है. सह-अस्तित्व निष्पन्न हो रहा है.

स्याद्वाद एक समुद्र है. उसमें सारे वाद विलीन होते हैं. जितने वचन-पथ हैं उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं उतने ही दर्शन हैं.[3]

---

१. सन्मतिप्रकरण ३.५३
कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंतं ।
मिच्छत्तं ते चेवा (व) समासओ होंति सम्मत्तं ।।

२. शास्त्रवार्तासमुच्चय २०७
परमैश्वर्ययुक्तत्वाद्, मत आत्मैव चेश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः ।।

३. सन्मतिप्रकरण ३।४७
जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म या दर्शन की तालिका बहुत लम्बी है. उनके विचारों का भेद भी बहुत तीव्र है. उनका समन्वय करना कोई सरल काम नहीं है. पर स्याद्वाद का मूल समन्वय की गहराई में नहीं है. उसका मूल साधना की गहराई में है. वह वहां तक पहुंचती है जहां सत्य ही आधार है. प्रोफेसर कीथ का मंतव्य है—"दर्शन के प्रति जैनियों की देन, जहाँ तक वह मौलिक थी, इस प्रयत्न के रूप में है कि जो स्थिर वस्तु है और जो अस्थिर है उन दोनों के विरोध का समाधान कैसे किया जाए ? उनका समाधान इस रूप में है कि एक स्थिर सत्ता के रहते हुए भी वह बराबर परिवर्तनशील है. यही सिद्धान्त न्याय में प्रसिद्ध स्याद्वाद का रूप धारण कर लेता है. इस वाद को मूलतः इस रूप में कह सकते हैं कि एक अर्थ में किसी बात को कहा जा सकता है, जबकि दूसरे अर्थ में उसी का निषेध भी किया जा सकता है. परन्तु जैनदर्शन का कोई गम्भीर विकास नहीं हो सका. क्योंकि यह आवश्यक समझा गया कि जैनदर्शन जिस रूप में परम्परा से प्राप्त था, उसको वैसा ही मान लेना चाहिए और इस अवस्था में उसे बौद्धिक आधार पर खड़ा नहीं किया जा सकता.[1]

प्रो० कीथ का निष्कर्ष पूर्णतः यथार्थ नहीं है तो पूर्णतः अयथार्थ भी नहीं है. जैन विद्वान् परम्परा-सेवी रहे हैं. परन्तु जैनदर्शन का गम्भीर विकास नहीं हुआ, यह सही नहीं है. इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन-परम्परा में तर्क- शास्त्र का उतना विकास नहीं हुआ जितना नैयायिक और बौद्ध धारा में हुआ. इसका कारण यही मान्यता थी कि सत्य की उपलब्धि तर्क के द्वारा नहीं, किन्तु साधना के द्वारा होती है.

स्याद्वाद एक तर्क-व्यूह के रूप में गृहीत नहीं हुआ, किन्तु सत्य के एक द्वार के रूप में गृहीत हुआ.

केवल स्याद्वाद को जानने वाला सब धर्मों पर समभाव नहीं रख सकता, किन्तु जो अहिंसा की साधना कर चुका, वही सब धर्मों पर समभाव रख सकता है. स्याद्वाद अहिंसा का ही एक प्रकार है. जो अहिंसक न हो और स्याद्वादी हो, यह उतना ही असम्भव है कि कोई व्यक्ति हिंसक हो और शुष्क तर्कवादी न हो.

कौटिल्य ने तर्कविद्या को सब धर्मों का आधार कहा है.[2] इसके विपरीत भर्तृहरि का मत है—"कुशल अनुमाता के द्वारा अनुमित अर्थ भी दूसरे प्रवर तार्किक द्वारा उलट दिया जाता है.[3] इसी आशय के सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा था—"कोरे ज्ञान से निर्वाण नहीं होता, यदि श्रद्धा न हो. कोरी श्रद्धा से भी वह प्राप्त नहीं होता, यदि संयम न हो."[4]

जैन विद्वानों ने संयम और श्रद्धा से समन्वित ज्ञान का विकास किया, इसलिए उनका तर्कशास्त्र स्याद्वाद की परिधि से बाहर विकसित नहीं हो सकता था.

तर्क से विचिकित्सा का अन्त नहीं होता. वही तर्क जब स्याद्वादस्पर्शी होता है, तो विचिकित्सा समाप्त हो जाती है. तर्कशास्त्र के सारे अंगों का जैन आचार्यों ने स्पर्श किया और हर दृष्टिकोण को उन्होंने मान्यता दी. उनके सामने असत्य कुछ भी नहीं था. असत्य था केवल एकान्तवाद और मिथ्या आग्रह. आग्रह न हो तो चार्वाक का दृष्टिकोण भी असत्य नहीं है, वह इन्द्रियगम्य सत्य है. वेदान्त का दृष्टिकोण भी असत्य कैसे है? वह अतीन्द्रिय सत्य है. इन्द्रिय-गम्य और अतीन्द्रिय दोनों का समन्वय पूर्ण सत्य है.

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५८९

२. कौटलीय अर्थशास्त्र १।२
आश्रयः सर्वधर्माणां, शश्वदान्वीक्षिकी मता ।

३. वाक्यपदीय १।३४
यत्नेनानुमितोप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यै-रन्यथैवोपपाद्यते ।।

४. प्रवचनसार चारित्राधिकार । ३७
ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे, असंजदो वा ण णिव्वादि ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समन्वय या समभाव की दिशा में हरिभद्र सूरि का दृष्टिकोण बहुत प्रशस्त है. उन्होंने लिखा है—"जिस प्रकार अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का सम्बन्ध जैन दृष्टि से घटित होता है, अमूर्त आकाश के साथ घट का सम्बन्ध होता है, अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मदिरा का आघात होता है, वैसे ही सांख्य का प्रकृतिवाद घटित हो सकता है. कपिल मुनि दिव्य-ज्ञानी थे. वे भला असत्य कैसे कहते ?[1]"

महात्मा बुद्ध ने क्षणिक-वाद का उपदेश आसक्ति मिटाने के लिए, विज्ञान-वाद का उपदेश बाह्य-पदार्थों से विमुक्त रखने के लिए दिया. वे भला विना प्रयोजन के ऐसी बात कैसे कहते.[2]

अद्वैत की देशना समभाव की सिद्धि के लिए की गई.[3] इस प्रकार विरोधी प्रतिभासित होने वाली दृष्टियों में अविरोध ढूंढना और उनके प्रवर्तकों के प्रति आदरभाव प्रकट करना एक समदर्शी स्याद्वादी महातार्किक का ही काम है.

आज जैन मनीषियों के लिए यह सद्यःप्राप्त कार्य है कि वे समभाव की साधना से समन्वित स्याद्वाद का प्रयोग कर जीवन के हर क्षेत्र में उठने वाले विवादों और संघर्षों का शमन करें.

---

१. शास्त्रवार्तासमुच्चय २३६–२३७

मूर्तस्याप्यात्मनो योगो, घटेन नभसो यथा ।
उपघातादिभावश्च, ज्ञानस्येव सुरादिना ॥
एवं प्रकृतिवादोपि, विज्ञेयः सत्य एव हि ।
कपिलोक्तत्वतश्चैव, दिव्यो हि स महामुनिः ॥

२. शास्त्रवार्तासमुच्चय ४६४–६६ ।

३. शास्त्रवार्तासमुच्चय ५५० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org